Research Papers

पंजीयन क्रमांक 04/14/08825/06
ISSN-0975-2560

पारमिता

(वर्ष 8, अंक 8)

दर्शन-परिषद्

(मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़)

प्रबंध सम्पादक
डॉ. विनोद कुमार कटारे

सम्पादक
डॉ. प्रदीप कुमार खरे

प्रो. संगमलाल पाण्डेय स्मृति व्याख्यान माला 2015 में प्रस्तुत।

अद्वैत दर्शन तथा पलायनवाद

डॉ0 अखिलेश्वर प्रसाद दुबे
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
दर्शनशास्त्र विभाग,
डॉ0 हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

भारतीय दर्शन परम्परा में अद्वैत वेदान्त का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस दर्शन की विशेषता है कि यह मात्र ब्रह्म को ही एकमात्र सत्य मानता है। सम्पूर्ण दर्शन इस सूत्रवाक्य *'ब्रह्म सत्यम् जगत् मिथ्या जीवो ब्रह्मै व नापरः।'* अर्थात् ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। जगत् मिथ्या है तथा जीव और ब्रह्म अभिन्न हैं – से व्यक्त होता है। शंकर के दर्शन में विश्व को गौण मानकर इसकी व्याख्या की गई है, जिसमें विश्व पूर्णतः सत्य नहीं है। ब्रह्म को एकमात्र सत् मानने के कारण ही यह विचारधारा अद्वैतवाद कहलाती है। शंकर ने जगत् को रस्सी में दिखाई देने वाले सर्प के समान माना है। यद्यपि जगत् मिथ्या है फिर भी जगत् का कुछ न कुछ आधार है। जिस प्रकार रस्सी में दिखाई देने वाले साँप का आधार रस्सी है उसी तरह विश्व का आधार ब्रह्म है। शंकर कहते हैं – ब्रह्म विश्व का अधिष्ठान है। जिस प्रकार सॉप रस्सी के वास्तविक स्वरूप पर पर्दा डाल देता है उसी प्रकार जगत् ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप पर आवरण डाल देता है और उसके रूप का विक्षेप जगत् यथार्थ प्रतीत होने लगता है। शंकर के अनुसार सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का विवर्त उसी प्रकार है जिस प्रकार रस्सी का विवर्त सर्प है। ब्रह्म सत्य है। विश्व असत्य है। अतः शंकर विवर्तवाद का समर्थन करते हैं, यदि यह परिवर्तनशील संसार आभास मात्र है तब इस संसार को जादूगर के खेल की तरह समझा जा सकता है। जिस प्रकार जादूगर की प्रवीणता से हम उसके खेल से प्रभावित होते हैं किन्तु स्वयं जादूगर अपने जादू की कला से प्रभावित नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्म भी माया से जगत् की सृष्टि करता है और स्वयं उससे अप्रभावित रहता है। शंकर ने विश्व को स्वप्न कहा है। जिस प्रकार स्वपन की अनुभूतियाँ हमें स्वपनकाल में ठीक प्रतीत होती हैं उसी प्रकार जब तक हम विश्व में अज्ञान के वशीभूत निवास करते हैं विश्व यथार्थ प्रतीत होता है।[1] जिस प्रकार स्वपन की अनुभूतियों का खण्डन जागृत् अवस्था में हो जाता है उसी प्रकार विश्व की अनुभूतियों का खण्डन मोक्ष प्राप्त करने के बाद अपने आप हो जाता है। यद्यपि शंकर ने विश्व को स्वपन माना है, फिर भी वह स्वपन और संसार के बीच विभेदक रेखा खींचता है।

ISSN 2348-7763

दस्तावेज़

जनवरी-मार्च, 2016

अंक 150

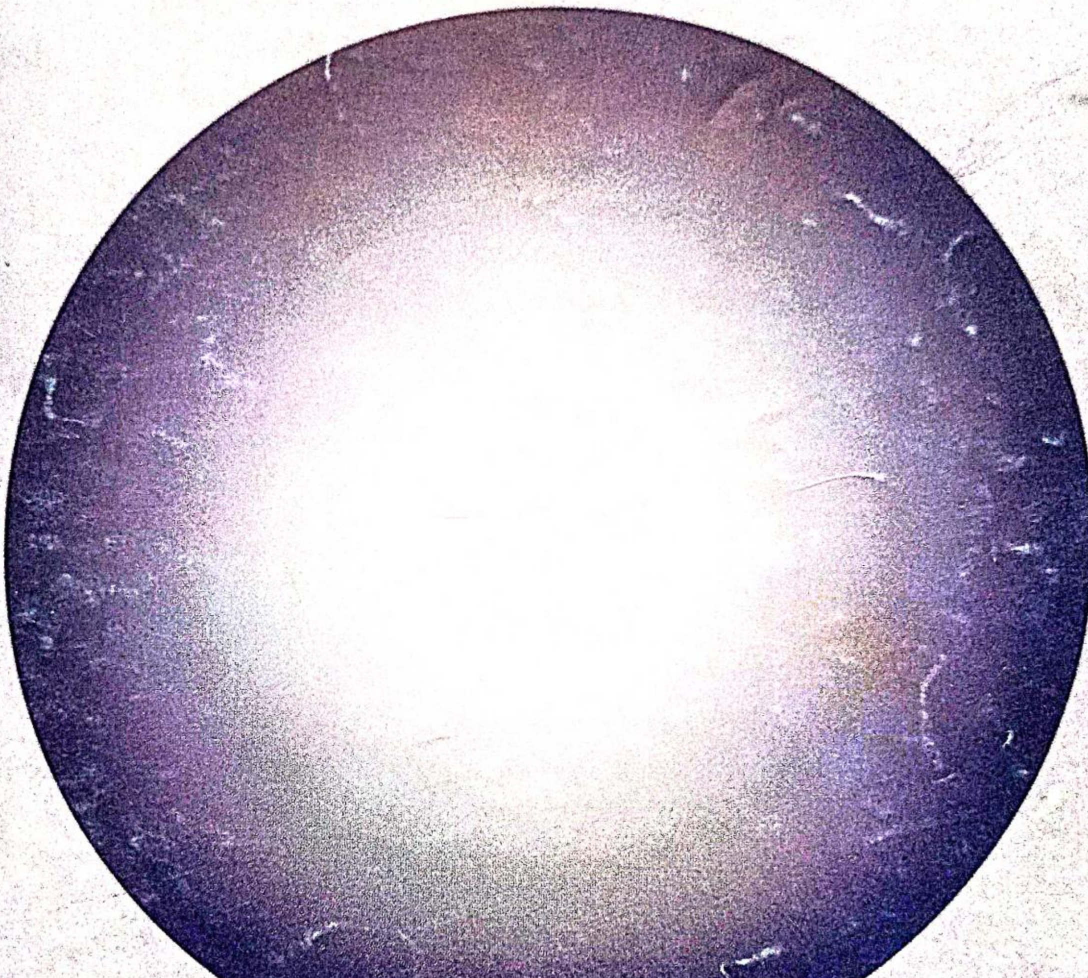

संपादक : विश्वनाथ प्रसाद तिवारी

बौद्ध दर्शन : प्रस्थानों के सैद्धांतिक मतभेद और एकवाक्यता के मूलभूत सूत्र

अंबिकादत्त शर्मा

भगवान् बुद्ध द्वारा प्रवर्तित बौद्ध दर्शन कोई एक दर्शन नहीं अपितु दर्शनों का समूह है। इनका मूल धर्मग्रंथों की सुव्यवस्थित संहिता में न होकर मौखिक रूप से प्रसारित उपदेशों की आकार विहीन परंपरा है। बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद भिक्षु संघों द्वारा विभिन्न संगितियों का आयोजन कर बुद्ध वचनों को सुत्त, विनय और अभिधम्म पिटक के रूप में संहिताबद्ध किया गया। यही त्रिपिटक बौद्ध दर्शनों के संहिताबद्ध आधार हैं। बुद्ध वचनों को तीन ही पिटकों में विभाजित करने का आधार बुद्ध की तीन शिक्षायें (शील, समाधि और प्रज्ञा) और तीन प्रकार की देशनायें (आज्ञा, व्यवहार और परमार्थ) हैं।[1] अन्य धार्मिक परंपराओं की तरह पिटकों में संग्रहित ज्ञान-राशि को अपौरुषेय अथवा दैवीय रूप से प्रकाशित नहीं माना जाता है। यह चेतावनी स्वयं बुद्ध द्वारा ही दी गई है कि उनके उपदेश पौरुषेय प्रमाण की सीमा में हैं और उन्हें श्रद्धाभाव के चलते नहीं बल्कि परीक्षा की कसौटियों पर कस कर ही स्वीकार किया जाना चाहिए।[2]

विवेक का स्वातंत्र्य चूंकि बौद्धानुयायियों को विरासत में मिली है, इसलिए कालांतर में बौद्ध दर्शन का विकास बुद्ध वचनों के वास्तविक तात्पर्य को उद्‌घाटित करने के प्रयास में हुआ है। मोटे तौर पर बुद्ध वचनों के तात्पर्य का निर्धारण उन्हें नीतार्थ और नेयार्थ मानकर किया जाता है। नीतार्थ वचन वे हैं जिनका अर्थ सीधे-सीधे शब्दशः ग्रहण किया जाता है जबकि नेयार्थ वचन अभिप्रायिक होते हैं।[3] व्याख्या के इस मूलभूत सूत्र के पीछे यह धारणा प्रचलित रही कि बुद्ध के उपदेश एकस्तरीय नहीं बल्कि पात्रों की बौद्धिक क्षमता को ध्यान में रखकर दिए गए हैं।[4] इसी आधार पर यह भी माना जाता है कि बुद्ध ने कम-से-कम तीन धर्मचक्र प्रवर्तनों के द्वारा अपने उपदेशों के आशय को अधिकारीभेद के साथ प्रकट किया है। इसमें प्रथम धर्मचक्र प्रवर्तन सारनाथ में, द्वितीय गृध्रकूट पर्वत् पर और तृतीय वैशाली में किया गया था। तीनों धर्मचक्रों की देशना तीन अलग-अलग प्रकार के पात्रों को संबोधित हैं।

इन्हीं तीनों धर्मचक्र प्रवर्तनों से संबंधित उपदेशों को नीतार्थ अथवा नेयार्थ मानकर बौद्ध विचारधारा का धार्मिक विभाजन हीनयान और महायान में हुआ। हीनयानी बौद्ध प्रथम धर्मचक्र प्रवर्तन को ही बुद्ध की नीतार्थ देशना मानते हैं और व्यक्तिगत मुक्ति (अर्हत-पद) को अपना लक्ष्य मानते हैं। महायानी बौद्ध द्वितीय एवं तृतीय धर्मचक्र प्रवर्तन को बुद्ध की नीतार्थ देशना समझते हैं और प्राणिमात्र का कल्याण तथा सर्वमुक्ति को अपना लक्ष्य घोषित करते हैं।[5] महायानियों की दृष्टि में बुद्धत्व का बीज सभी प्राणियों में है और बुद्ध की देशनायें उसी को व्याकृत करने के उपाय कौशल मात्र हैं। इसीलिए बुद्ध अंतिम रूप से मुक्त होने की पात्रता रखते हुए भी बोधिसत्त्व के रूप में बारम्बार संसार में जन्म लेकर महाकरुणा के संपादन का व्रत लेते हैं। हीनयान और महायान बौद्ध धर्म से संबंधित दार्शनिक संप्रदायों का प्रस्थान भेद भी उनके द्वारा त्रिविध धर्मचक्र प्रवर्तनों से संबंधित बुद्ध वचनों को नीतार्थ और नेयार्थ मानकर अपने-अपने पक्ष में व्याख्यायित करना है। बुद्ध वचनों की नीतार्थ और नेयार्थपरक व्याख्या-पद्धति आपसी मतभेदों के लिए जितना अवकाश निर्मित करती है उतना ही गहरे स्तर पर एकवाक्यता बनाए रखने में भी सहायक होती है। इसीलिए बौद्ध दर्शन के विकास में व्याख्याओं की परस्पर विरोधी बहुलता के बावजूद एक मूलगामी एकता बनी रहती है।

I

हीनयानी बौद्ध परंपरा का दार्शनिक विकास अनगिनत छोटी-बड़ी असहमतियों के बीच आकार ग्रहण किया है। प्रारंभ में चार

मूल्य : 20 रुपये
ISSN 0973-1490

वर्ष–13 अंक–4

अप्रैल–जून 2016

चिन्तन-सृजन

www.asthabharati.org

त्रैमासिक

आस्था भारती, दिल्ली

पुस्तक-समीक्षा

औपनिषद् नीति-दर्शन का दिग्दर्शन*

अम्बिका दत्त शर्मा**

प्रो. ए. जे. एयर ने जो पाश्चात्य नीतिशास्त्र के संस्थापक विद्वान् हैं, नॉवेल स्मिथ की प्रसिद्ध पुस्तक 'एथिक्स' की प्रस्तावना लिखते हुए नैतिक उपदेशक और नीति-दार्शनिक में स्पष्ट अन्तर को प्रस्तावित किया था। इस अन्तर को ध्यान में रखते हुए आचार-संहिता मूलक नैतिक चिन्तन और दार्शनिक नैतिक चिन्तन में स्वरूपगत महत्त्वपूर्ण अन्तर को भी रेखांकित किया जा सकता है। उपदेशात्मक नैतिक चिन्तन वह है, जो हमारे समक्ष विधि-निषेध परक एक व्यापक आचार-संहिता को प्रस्तावित करता है और साथ ही साथ उसके अनुपालन के लिए हमें प्रोत्साहित भी करता है। इसके विपरीत नैतिक-दार्शनिक चिन्तन हमारे समक्ष न तो किसी प्रकार की आचार-संहिता का प्रस्ताव करता है और न ही उस पर अमल करने के लिए हमें प्रोत्साहित करता है। वस्तुतः नैतिक दार्शनिक चिन्तन अपने स्वरूप में विश्लेशणात्मक और विमर्शात्मक होता है। उसका कार्य नैतिक निर्णयों के स्वरूप की विवेचना करते हुए उन विशिष्ट मानकों की खोज-बीन करना है, जो हमारे कर्मों के औचित्यानौचित्य के निर्धारण में सहायक होते हैं।

अब भारतीय नैतिक चिन्तन के स्वरूप को लेकर एक आम धारणा बनी हुई है कि भारत में आचार-संहिता मूलक नैतिक चिन्तन का एक लम्बा और समृद्ध इतिहास रहा है। वैदिक परम्परा के गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों और धर्मशास्त्रीय परम्परा के विभिन्न स्मृतियों एवं नीति-ग्रन्थों में विधि-निषेध मूलक आचार-संहिता के व्यापक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। भारतीय परम्परा की निज पदावली में इसे ही 'धर्म' कहा गया है। यह 'धर्म'

*समीक्ष्य पुस्तक—उपनिषदों का नीति-दर्शन, लेखक - सन्तोष आचार्य, प्रकाशक- प्राकृत भारतीय अकादमी, जयपुर मूल्य 250/- प्रथम संस्करण 2014.

**समीक्षक—प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा, दर्शन विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.) 470003 , मोबा. 9406519498

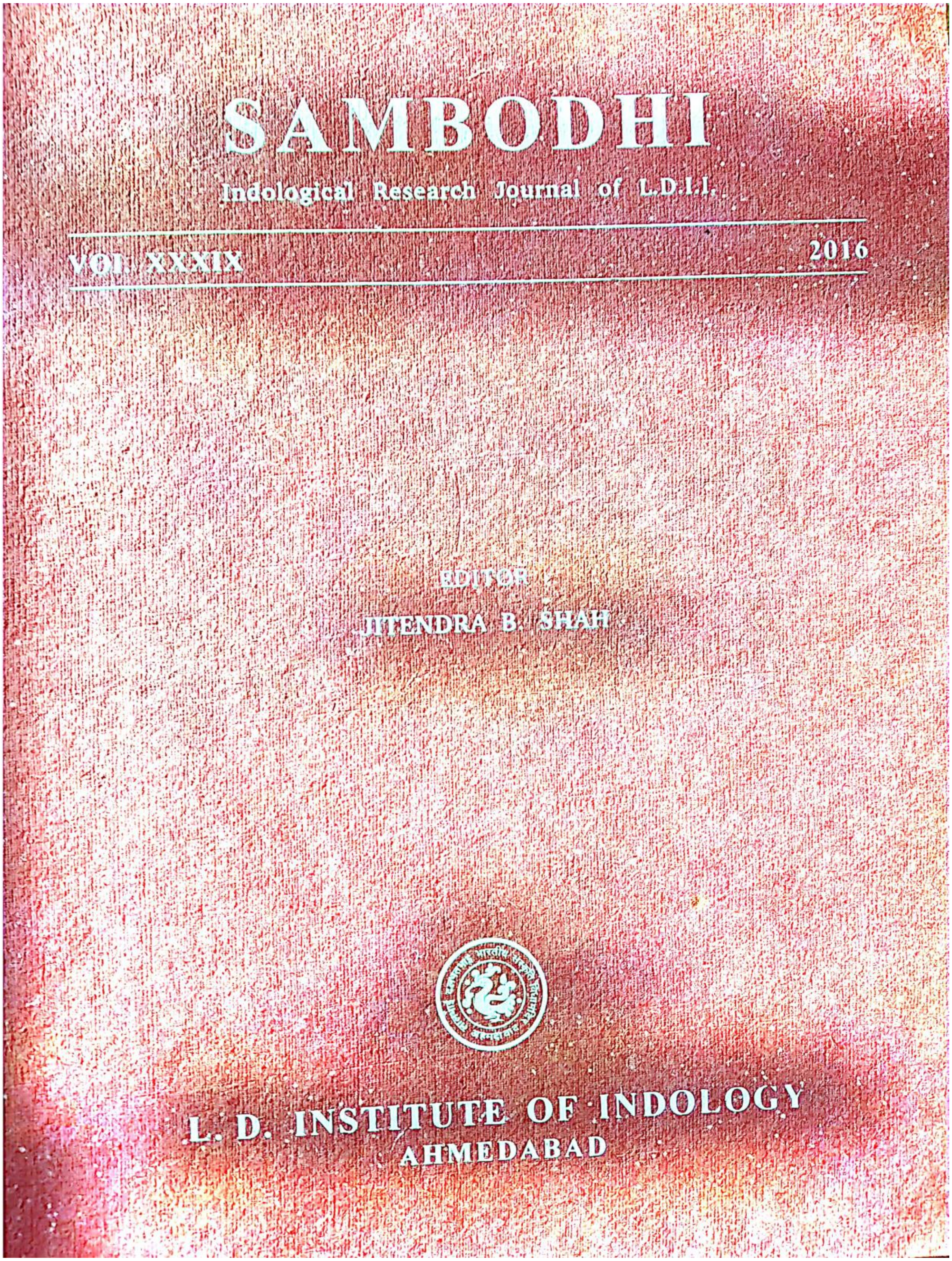

ISSN number - 2239-6661

SAMBODHI - Vol. XXXIX, 2016

अथ स्वतः परतः प्रामाण्यं परीक्ष्यते

अम्बिकादत्त शर्मा

मनुष्य प्रेक्षावन्त प्राणी है। प्रेक्षावन्त मनुष्य से अवर स्तर के प्राणी भी होते हैं। परन्तु मनुष्य की विशेषता यह है कि वह अपनी प्रेक्षाओं के प्रति आत्मचेतन होता है। इस कारण वह प्रेक्षाओं की पूर्ति के लिए हेय और उपादेय बुद्धि पूर्वक अवांछित वस्तु की वर्जना और वांछित वस्तु को प्राप्त करने में प्रवृत्त होता है। इन दोनों प्रकार की प्रेक्षाओं का जो इष्ट है, उसमें प्रवृत्ति और उसकी सिद्धि के लिए उसका ज्ञान होना आवश्यक है। ज्ञान को इसीलिए व्यवहार मात्र के प्रति साधारण निमित्त कारण माना जाता है। परन्तु यह ज्ञान व्यवहार का निमित्त होते हुए भी प्रेक्षित वस्तु की सिद्धि हठात् नहीं कराता। उसकी भूमिका मात्र ज्ञापक की होती है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो ज्ञान प्रेक्षित वस्तु की सिद्धि का कारक हेतु नहीं बल्कि ज्ञापक हेतु होता है। यदि वह कारक हेतु होता तो किसी वस्तु को जानने का मतलब उसे प्राप्त करना भी होता। तब ज्ञान और उसके विषय की प्रापकता को लेकर व्यभिचार और अन्यथात्व की कोई सम्भावना ही नहीं बनती। इस तरह ज्ञान को लेकर प्रामाण्याप्रामाण्य की विवक्षा भी नहीं होती। परन्तु ज्ञान को लेकर प्रामाण्याप्रामाण्य की विवक्षा आवश्यक रूप से हुआ करती है, क्योंकि एक ओर वह प्रेक्षित वस्तु के प्रति ज्ञापक हेतु होता है और दूसरी ओर उसकी ज्ञापकता निःसंदिग्ध हो, यह आवश्यक नहीं। इस कारण व्यवहार में प्रेक्षित वस्तु कभी प्राप्त हो जाती है और कभी नहीं भी होती। वस्तुतः किसी भी ज्ञान में उसके स्वरूप की ज्ञापकता जितनी सुनिश्चित होती है उतना ही सुनिश्चित उसके विषय की ज्ञापकता नहीं होती। प्रामाण्य और अप्रामाण्य का प्रश्न किसी ज्ञान के स्वरूप की ज्ञापकता को लेकर नहीं बल्कि ज्ञान के विषय की सुनिश्चित ज्ञापकता को लेकर ही उठता है। इसीलिए ज्ञान का वह स्वरूप जिसमें उसके विषय की ज्ञापकता सुनिश्चित होती है, उसी में प्रामाण्य और जिसमें सुनिश्चित नहीं होती, उसमें अप्रामाण्य माना जाता है। ज्ञान के इसी प्रामाण्याप्रामाण्य के सापेक्ष इष्ट की सिद्धि और अनिष्ट का परिहार सम्भव होता है। धर्मकीर्ति जब यह कहते हैं कि सकल पुरूषार्थों की सिद्धि सम्यक्ज्ञान पूर्वक होती है (सम्यग्ज्ञान पूर्विका सर्वपुरूषार्थ सिद्धिरिति तद् व्युत्पाद्यते)[1] तो इसका तात्पर्य इष्ट की सिद्धि

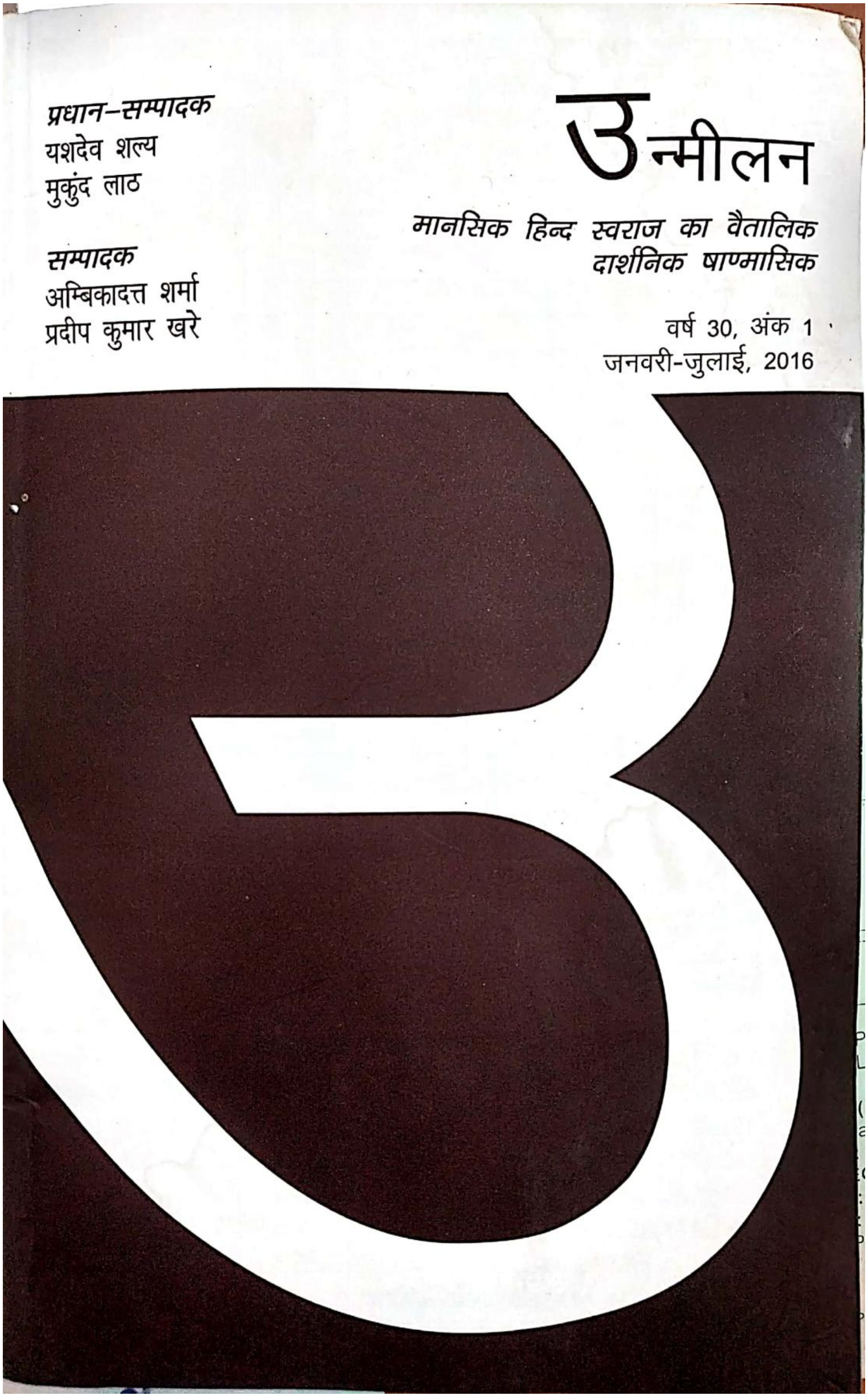

प्रधान–सम्पादक
यशदेव शल्य
मुकुंद लाठ

सम्पादक
अम्बिकादत्त शर्मा
प्रदीप कुमार खरे

उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

वर्ष 30, अंक 1
जनवरी-जुलाई, 2016

अनुक्रमणिका

1. गाँधीवाद : समकालीन विमर्शों के आलोक में हिन्द स्वराज की मीमांसा 5
विश्वनाथ मिश्र

2. आधुनिक विज्ञान में प्रमाण 56
अरविन्द कुमार राय

3. बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष की अवधारणा 73
अम्बिकादत्त शर्मा

4. धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष लक्षण की समालोचना 111
सच्चिदानन्द मिश्र

5. दो समकालीन भारतीय दार्शनिकों का स्मृत्याह्वान
रमेशचन्द्र शाह

बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष की अवधारणा

अम्बिकादत्त शर्मा

1. उपोद्घात

साधारण तौर पर प्रत्यक्ष को बड़ा ही सरल एवं शुद्ध प्रमाण माना जाता है। इसके विषय में यह आम धारणा है कि इन्द्रियों के माध्यम से प्रदत्त वस्तु प्रत्यक्षतः उसी रूप में उपलब्ध होती है, जैसी वह होती है। परन्तु प्रमाणमीमांसीय विचार–सारणी में प्रत्यक्ष के सरल एवं शुद्ध स्वरूप का निर्धारण उतना सरल नहीं, जितना कि समझा जाता है। प्रत्यक्ष विषयक भिन्न–भिन्न अवधारणाओं के बीच यह निश्चित कर पाना कठिन है कि प्रत्यक्ष का कोई सरल और शुद्ध स्वरूप होता भी है अथवा नहीं। वास्तव में प्रत्यक्ष का होना जितना निर्विवाद है उतना ही विवादास्पद यह है कि प्रत्यक्ष किसका और कैसे होता है? यदि प्रत्यक्ष की प्रत्यक्षता, अर्थात् सद्यः एवं साक्षात्कारी ज्ञान, को कम से कम प्रत्यक्ष का सरल और शुद्ध स्वरूप मान भी लिया जाए तो भी साक्षात्कारित्व की आधारभूमि पर प्रत्यक्ष अपनी बहुविध व्याख्या को प्रतिरूद्ध नहीं करता। वस्तुतः प्रत्यक्ष की तथाकथित सरलता एवं शुद्धता ऐन्द्रिक संवेदन की एक ऐसी प्रभावाभिनत स्थिति है कि उसके स्वरूप एवं व्याख्या को आसानी से प्रभावित करते हुए प्रत्यक्ष विषयक एक से अधिक अवधारणाओं को निर्मित करने का लाभ लिया जा सकता है। इसीलिए तो विभिन्न दर्शन–प्रस्थानों के भेद से प्रत्यक्ष की भिन्न–भिन्न अवधारणाएँ विकसित हुई हैं और तब भी सबके सब प्रत्यक्ष के नितान्त वास्तविक स्वरूप को ही उद्घाटित करने का दावा करते हैं। प्रत्यक्ष के ज्ञानमीमांसीय विवेचन की इस तथ्यात्मकता को समायोजित करने के लिए उसे दो प्रकार के मूल्यों के सन्दर्भ में समझना आवश्यक प्रतीत होता है। इसमें पहले प्रकार के मूल्य को 'संज्ञानात्मक' और दूसरे प्रकार के मूल्य के मूल्य को 'अवधारणात्मक' कहा जाना उचित हो सकता है। प्रत्यक्ष को उसका संज्ञानात्मक मूल्य लोकव्यवस्था और लोकप्रतीति की अनुरूपता में निरूपित किये जाने से प्राप्त होता है। परन्तु प्रत्यक्ष अपने संज्ञानात्मक मूल्य से ऊपर अवधारणात्मक मूल्य को एक विशेष प्रकार की तत्त्वमीमांसीय दृष्टि

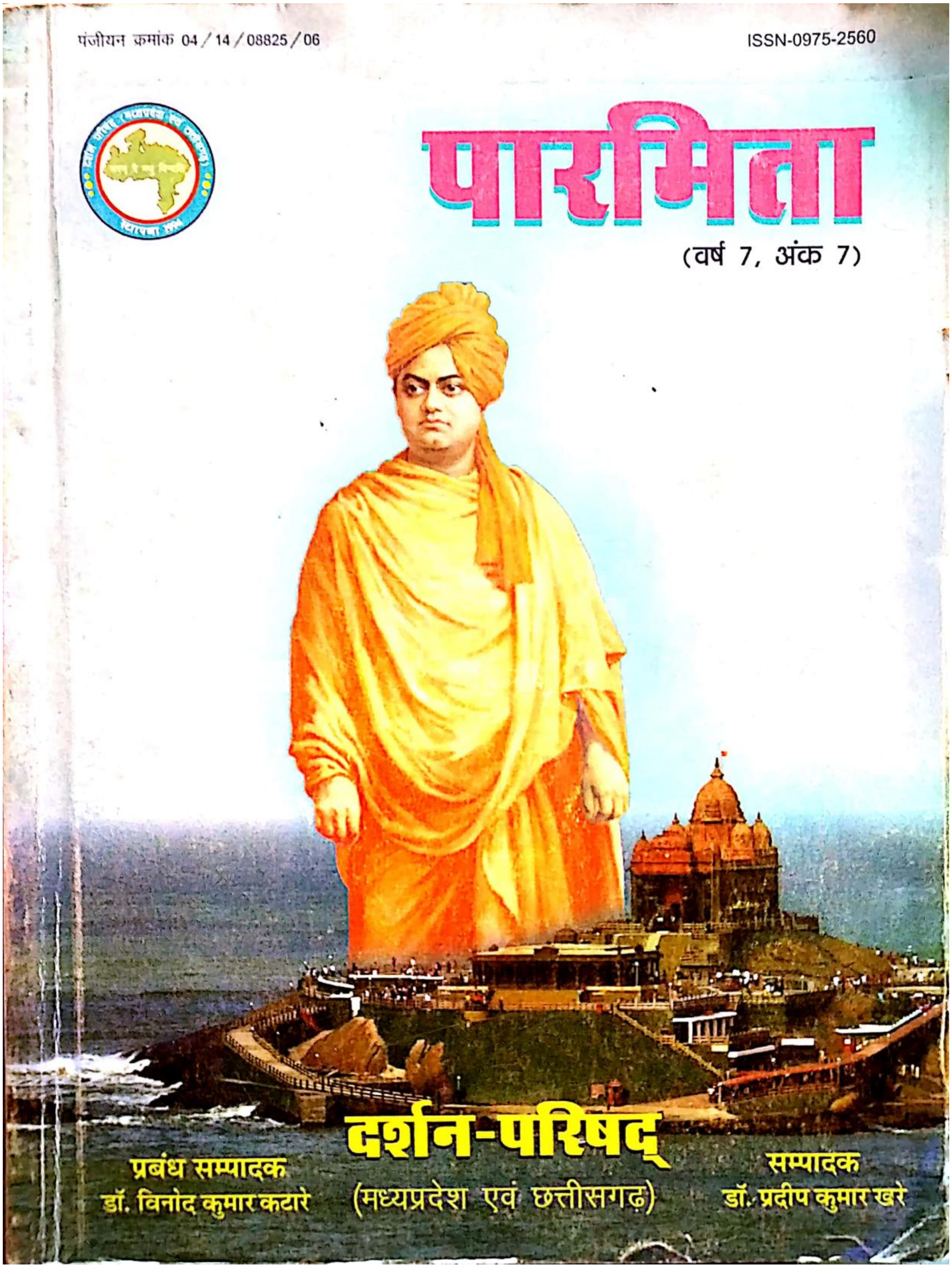

पंजीयन क्रमांक 04 / 14 / 08825 / 06

ISSN-0975-2560

पारमिता

(वर्ष 7, अंक 7)

दर्शन-परिषद्

(मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़)

प्रबंध सम्पादक
डॉ. विनोद कुमार कटारे

सम्पादक
डॉ. प्रदीप कुमार खरे

प्रकाशक : प्रो. दीपा पाण्डे
अध्यक्ष, दर्शन परिषद (म.प्र.एवं छत्तीसगढ़)

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

मुद्रक	:	श्रेया ऑफसेट, एम.पी.नगर भोपाल
प्रतियाँ	:	100
वर्ष	:	2016
मूल्य	:	रु. 500

इस शोध पत्रिका में प्रकाशित लेखों के लिए लेखक सर्वथा उत्तरदायी है। उनके विचारों से परिषद् की सहमति अनिवार्य नहीं है।

पर्यावरणीय समस्या और बौद्ध दर्शन

डॉ. नरेन्द्र कुमार बौद्ध
दर्शन विभाग,
डॉ. हरीसिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

वर्तमान में जहाँ एक ओर मनुष्य इस संघर्षशील युग में भौतिक सुख–सुविधाओं से अपने को सुसज्जित पा रहा है अथवा पाने का प्रयास कर रहा है, तो दूसरी ओर अनेक व्यक्तिगत एवं सामाजिक समस्यायें उसके विकास में बाधक बनी हुई हैं। आज जीवन के मूल्यों में गिरावट अनुभव की जा रही है तो स्वयं उसके आस्था एवं विश्वास जो उसके जीवन के आधार हैं, उन पर उसे भरोसा नहीं है। धार्मिक भेद–भाव, अलगाववाद एवं अप–संस्कृति जैसे संकट तो आज के मानव के समक्ष यक्ष–प्रश्न बनकर खड़े ही हैं। परन्तु इन सबसे इतर एक अन्य गंभीर समस्या जो एकदेशीय नहीं है जिसकी आज अनदेखी नहीं की जा सकती, वह है सार्वभौमिक पर्यावरणीय समस्या जो मानव–अस्तित्व के लिए अत्यंत गंभीर है। यह समस्या संपूर्ण समाज चाहे वह मनुष्य हो या अन्य प्राणी, पर प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डाल रही है।

अथक वैज्ञानिक, सामाजिक और राजनीतिक प्रयासों के बावजूद निकट भविष्य में इस समस्या का कोई समाधान प्रतीत नहीं हो रहा है। ऐसी स्थिति में तब क्या विकासधारा को रोक दिया जाए? और यदि नहीं तो विकास की दशा क्या होनी चाहिए? यदि हम प्रकृति को उसकी आंतरिक मूल्यवत्ता के कारण उपभोग्य न मानें, इसका पूर्ण सम्मान और संरक्षण ही करें तो फिर मानव का भौतिकीय पालन–पोषण कैसे संभव है? यहीं सोपानपरक मूल्य की बात प्रासंगिक हो जाती है कि प्राकृतिक आंतरिक सामंजस्य को किसी तरह बिगाड़े बिना हम उतना ही उचित उपयोग करें जिससे पूरी समष्टि का संतुलन कायम रह सके। विगत् दो–तीन दशकों से इस समस्या का गंभीरता से अध्ययन–अध्यापन हो रहा है तो वहीं इस संदर्भ में बौद्ध दर्शन के इस समस्या पर क्या प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष विचार हैं इसका विश्लेषण इस शोध–पत्र का विषय है। बौद्ध दर्शन मानव जीवन और उससे संबंधित विभिन्न क्षेत्र के पर्यावरणीय वस्तुओं के संबंधों का ज्ञान मानवहित को ध्यान में रखकर बौद्धिक दृष्टिकोण रखते हुए सम्यक् मूल्यांकन करता है। अतः जीवन धारण करने योग्य विकास अर्थात् एक ऐसा विकास जो मानव जीवन की उत्तमता को एवं पर्यावरण को बिना हानि पहुँचाए, अपनाना चाहिए जो वर्तमान एवं भविष्य की पीढ़ियों की आवश्यकता की पूर्ति को ध्यान में रखते हुए किया जाए।

पर्यावरण शब्द की उत्पत्ति 'परि समन्तात् आवरण' से हुई है जिसका अर्थ सब तरफ से सृष्टि को व्याप्त

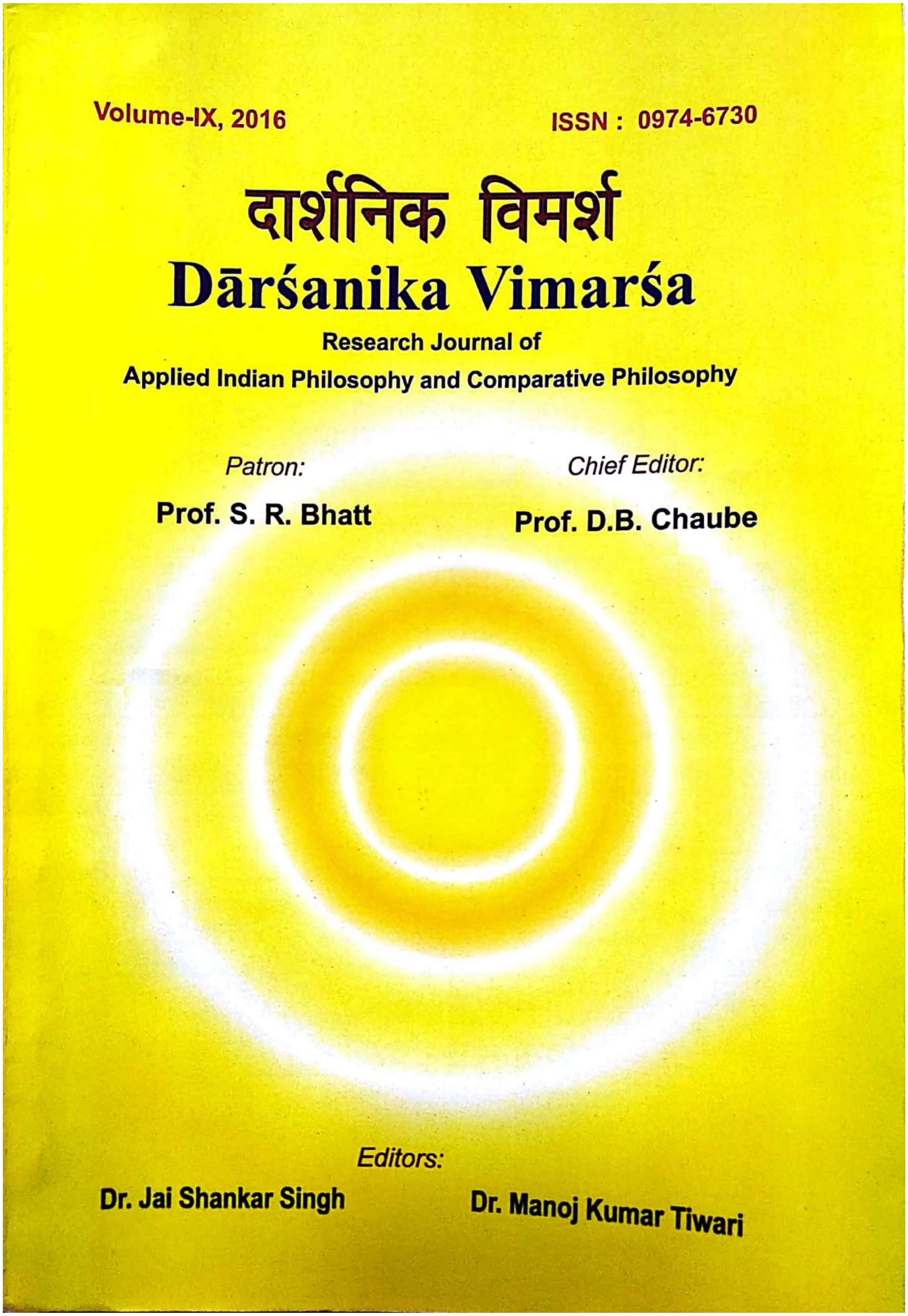
Volume-IX, 2016
ISSN : 0974-6730
दार्शनिक विमर्श
Dārśanika Vimarśa
Research Journal of
Applied Indian Philosophy and Comparative Philosophy
Patron:
Prof. S. R. Bhatt
Chief Editor:
Prof. D.B. Chaube
Editors:
Dr. Jai Shankar Singh
Dr. Manoj Kumar Tiwari

कारणात्मक सम्बन्ध : मिल की प्रायोगिक विधियाँ

डॉ. सत्यनारायण देवलिया*

प्रकृति में कुछ भी अकारण घटित नहीं होता। प्रत्येक घटना या परिस्थिति के लिए किसी न किसी आवश्यक एवं पर्याप्त अवस्था की आवश्यकता होती है। विशेषतः विज्ञान के क्षेत्र में प्रकृति में घटने वाली विभिन्न घटनाओं में कार्य कारण सम्बन्धों की खोज की जाती है और उनके आधार पर वैज्ञानिक किसी सामान्य सिद्धांत पर पहुँचते है। विशेष तथ्यों के आधार पर किसी सामान्य सिद्धांत पर पहुँचना आगमन कहलाता है। इसके विपरीत किसी सर्वमान्य सामान्य सिद्धांत के आधार पर विशेष तथ्य पर पहुँचना निगमन है। विज्ञान के क्षेत्र कार्य कारण सिद्धांत का पता लगाने के लिए आगमनात्मक विधियों की आवश्यकता पड़ती है, जिनकी चर्चा आगमन तर्कशास्त्र में की जाती है पर समाज विज्ञान व मानविकी के क्षेत्र में अनुसंधान हेतु भी ये विधियाँ सहायक सिद्ध हो सकती है। मिल से पहले बेकन तथा हर्शेल के दर्शन में इन विधियों के सूत्र पाये जाते हैं, पर मिल ने इन्हें व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया। इसलिए ये मिल की प्रायोगिक विधियाँ कहलाती है। इन्हीं प्रायोगिक छानबीन की विधियों या प्रत्यक्ष आगमन के सूत्र भी कहते है। इन प्रायोगिक विधियों में प्रयोग के साथ–साथ निरीक्षण का भी सहारा लिया जाता है। मिल के अनुसार प्रायोगिक विधियों का दूसरा नाम निरास की विधियाँ भी है। निरास की विधियों से तात्पर्य इन विधियों में अप्रासंगिक व आकस्मिक परिस्थितियों को हटा दिया जाता है।

प्रायोगिक विधियों के प्रकार

जे.एस. मिल ने निम्नलिखित पाँच प्रायोगिक विधियों को मान्यता प्रदान की है:

1. अन्वय विधि
2. व्यतिरेक विधि
3. अन्वय–व्यतिरेक की संयुक्त विधि
4. अवशेष विधि
5. सहपरिवर्तन विधि

उपरोक्त विधियों में प्रथम दो विधियाँ ही प्रमुख है शेष तीन गौण हैं, क्योंकि प्रथम दो अन्वय एवम् व्यतिरेक की विधियाँ मौलिक हैं।

---

* *दर्शनशास्त्र विभाग, डॉ0 हरीसिहं गौर वि. विसागर, म.प्र.,*
ई0 मेल: dr.sndevliya7@gmail.com, मो0 9893450106

Chapters in Books

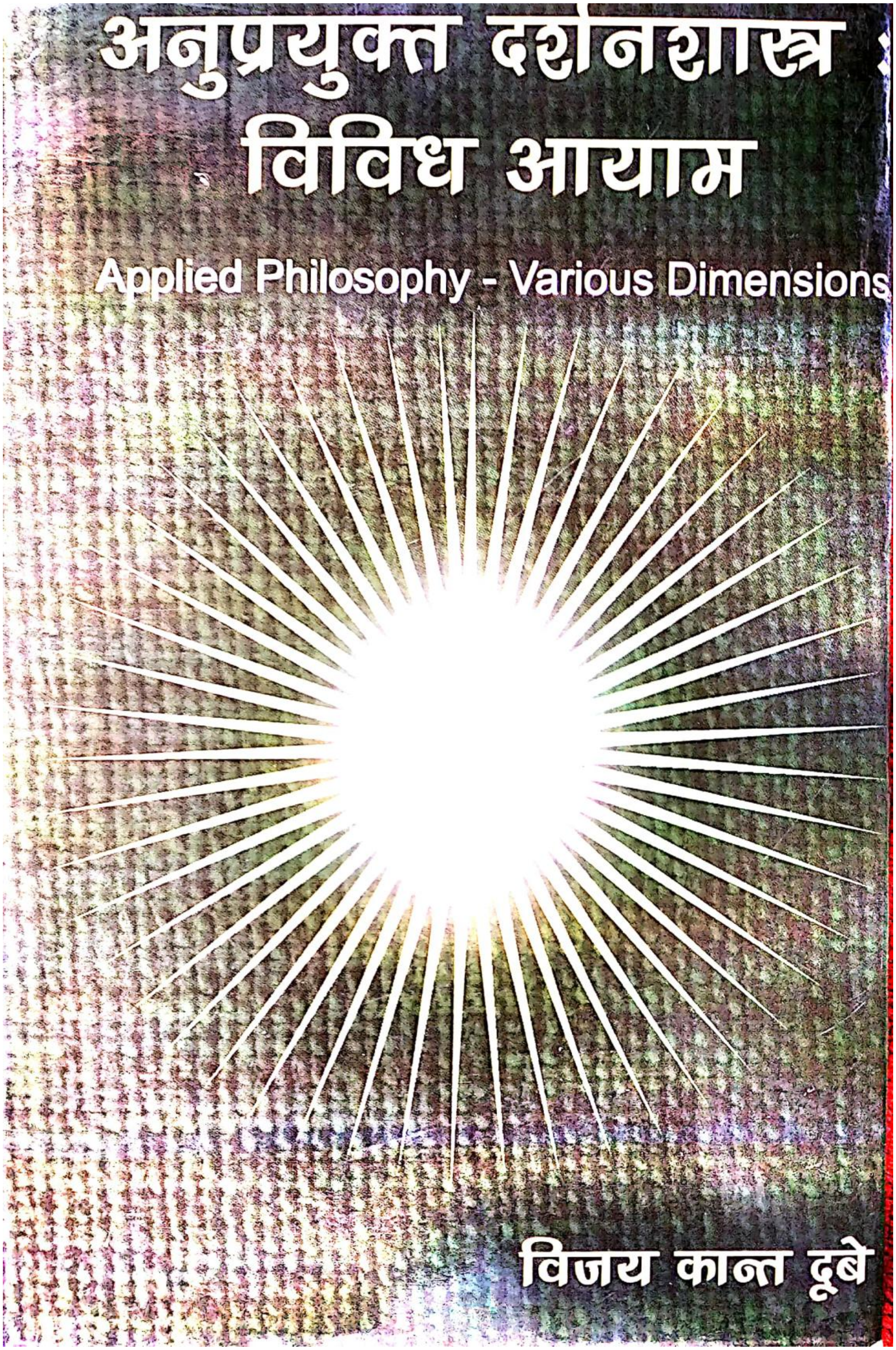

ISBN : 978-81-8315-287-7

1

व्यावसायिक नीतिशास्त्र : एक समीक्षा

अखिलेश्वर प्रसाद दुबे

नैतिकता और मूल्यों का परस्पर सम्बन्ध है। एक के अभाव में दूसरे की सार्थकता की कल्पना नहीं की जा सकती। यद्यपि भारतीय दर्शन में 'मूल्य' शब्द का प्रयोग ऐतिहासिक दृष्टि से नवीन है क्योंकि 'मूल्य' शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, धर्मग्रन्थों में उस अर्थ में 'शील' शब्द का प्रयोग किया गया है। चूँकि मूल्यों का सीधा सम्बन्ध नैतिकता से है और नैतिकता का सम्बन्ध नीतिशास्त्र से, तो नैतिकता का संक्षिप्त अर्थ जानना यहाँ अप्रासांगिक नहीं होगा। नीतिशास्त्र दर्शनशास्त्र की वह शाखा है जो मनुष्य के आचरण, व्यवहार का अध्ययन कर यह निर्देशित करती है कि क्या करना चाहिए? क्या नहीं करना चाहिए? क्या शुभ है? क्या अशुभ है? क्या उचित है? क्या अनुचित है? आदि। ऐसा इसलिए क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और सामाजिकता के नाते उसके आचरण एवं व्यवहार से समाज प्रभावित होता है। इसलिए नैतिकता का सीधा सम्बन्ध मूल्यों से हो जाता है। वे सभी मूल्य जो मानवोपयोगी हैं और अच्छाई या शुभ से सम्बन्धित हैं, उन्हें नैतिक मूल्यों की श्रेणी में रखा जाता है। यह स्थापना गलत न होगी कि नैतिक मूल्यों का समन्वय ही सामाजिक मूल्यों की संरचना है। किसी समाज की सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिए मानवीय मूल्यों की सर्वाधिक महती भूमिका है। मूल्य नैतिक शिक्षा की ऐसी संस्था है जो सभ्यता, परम्परा, संस्कृति या सद्व्यवहार द्वारा पोषित तथा आत्मचेतना द्वारा संरक्षित होती है।[1] इस प्रकार नैतिक सूत्र एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित होते हैं। अतः ये संस्कार रूप हैं और परम्परा से आगे बढ़ते हुए ये सांस्कृतिक विरासत बनते हैं।

Books

बौद्ध प्रमाण दर्शन

प्रमाणशास्त्रीय सिद्धान्तों का अधिप्रामाण्य विश्लेषण

Philosophy of Buddhist Epistemology
(Metaepistemic Analysis of Pramāṇa Theories)

अम्बिकादत्त शर्मा

पुरोवाक्
यशदेव शल्य

PRINTWORLD
भारतीय परंपराओं के प्रकाशक
नई दिल्ली

ISBN No. : 978-81-246-0870-8
Year of publication- 2016

प्राकृत भारती पुष्प : 367

जैन दर्शन में तत्त्व और ज्ञान

(प्रोफेसर सागरमल जैन के दार्शनिक निबन्धों का संग्रह भाग 10-12)

सम्पादक

प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा

प्रदीप कुमार खरे

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

ISBN No. : 978-93-81571-73-6
Year of publication- 2016